



# विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/निःशुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujain@gmail.com

vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujain.com

## राजशेखर और उनका साहित्य

जयेन्द्रकुमार श्रीवास्तव

राजशेखर संस्कृत साहित्य के प्रमुख नाटककारों में से एक थे। उनके नाटक मुख्य रूप से शृंगार रस और सामाजिक व्यंग्य पर आधारित हैं। उन्होंने संस्कृत नाटक की परंपरा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। राजशेखर ने अपने नाटकों के माध्यम से तत्कालीन समाज की स्थिति और सांस्कृतिक धरोहर को भी उजागर किया। राजशेखर का साहित्य संस्कृत काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के विकास में एक मील का पत्थर है। उनके ग्रंथ न केवल साहित्यिक सौंदर्य का परिचय देते हैं, बल्कि साहित्यिक सिद्धांतों और विचारों को भी समृद्ध करते हैं। कविराज राजशेखर की काव्यमीमांसा भी मध्ययुगीन साहित्य, समृद्धि और सामाजिक आचार-विचारों और लोक-जीवन में प्रचलित बहुविध मान्यताओं का पिटारा है। राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में, विशेष रूप से बालरामायण की प्रस्तावना में, अपना जैसा परिचय दिया है, तदनुसार वह विद्वंश में उत्पन्न हुए थे। 3 उपाध्याय ब्राह्मण थे और महाराष्ट्रीय यायावर-वंश में उनका जन्म हुआ था। उन्होंने चौहानवंशीया अवन्तिसुन्दरी से विवाह किया था, जो कि विदुषी और काव्य-कला प्रवीणा थी। इस रूप में उनकी उदारता भी प्रकट होती है। कविराज उनका वीरुद था, जो कि उनके विलक्षण व्यक्तित्व और असाधारण पाण्डित्य का सूचक था। वे कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल और उनके पुत्र महीपाल दोनों की राजसभा में सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित रहे। वे महेन्द्रपाल के गुरु और महीपाल के संरक्षक थे। इस गुर्जर प्रतिहारवंश की प्रथम राजधानी भिन्ननाल या भिलमाल (राजस्थान) थी और उसके बाद वे कन्नौज के स्वामी बने। इन दोनों शासकों का शासन काल 890-940 ई. था। अतः राजशेखर नौवीं शती में हुए।

राजशेखर ने पांचाल देशवासियों के काव्यगुणों, भाषा-प्रयोगों और आचारों की बड़ी प्रशंसा की है। राजशेखर ने पांचाल देश की सीमाओं का समीकरण मनुस्मृति में मध्यदेश से किया है। उसकी सीमाएँ थानेश्वर से लेकर प्रयाग तक और हिमालय की उपत्यका से लेकर यमुना तक फैली हुई थी। वह उत्तर और दक्षिण दो भागों में विभक्त था। राजशेखर ने पांचाल जनपद को अन्तर्वेदी नाम से भी कहा है। दक्षिण पांचाल की राजधानी कान्यकुब्ज और उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्रा (वर्तमान अहिच्छन्ता) थी। राजशेखर ने लिखा है कि पांचाल देश के कवियों की रचनाओं में ग्रामीणता का अभाव होता है। वे उच्चतर शास्त्रीय तथा लौकिक अर्थों की नव्य-भव्य उक्तियों के अभिव्यंजन में पटु होते हैं। उनकी काव्य-पाठ-प्रणाली नी सर्वोत्कृष्ट होती है। उसमें अवर्णनीय माधुर्य होता है। उनका भाषा-ज्ञान भी अत्यन्त पुष्ट एवं सर्वांगीण है। जबकि भिन्न-भिन्न देशों के कवि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा भूतभाषा आदि किसी एक में निपुण होते हैं, किन्तु पांचाल देश के कवि सभी भाषाओं में विशिष्ट स्थान रखते हैं। पांचाल के प्रमुख नगर कान्यकुब्ज में सभ्य एवं सुशिक्षित नागरिक निवास करते हैं। वहाँ की रमणियों की वेशभूषा मुग्धकारी होती है। उनका वेश-विन्यास, बोल-चाल, व्यवहार की मुग्धकारी शैली, केशों की आकर्षक सज्जा और आभूषण धारण करने का प्रकार इतना उत्कृष्ट होता है कि सभी देशों की सभ्य ललनाएँ सहज ही उनका अनुकरण करने को लालायित रहती है।

मध्ययुगीन भाषा-ज्ञान की दृष्टि से काव्यमीमांसा वास्तव में विश्वकोश के समान है। राजशेखर की अन्य कृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्हें तत्कालीन लोक भाषा-बोलियों से अत्यन्त अनुराग था। उस युग में संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची आदि भाषाओं में भी काव्य-रचना होती थी। उन्होंने लिखा है कि इन सभी भाषाओं में समान रूप से काव्य-रचना करनेवाला कविराज महाकवि से भी श्रेष्ठ है। मध्ययुगीन भारत के विभिन्न अंचलों में विशेष रूप से प्रयुक्त होनेवाली भाषाओं के सम्बन्ध में राजशेखर का कहना है कि गौड़ आदि देशों के कवि संस्कृत में अधिक रुचि रखते

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

राजशेखर और उनका  
साहित्य  
जयेन्द्रकुमार श्रीवास्तव

पृष्ठ क्र. 3-4

भारतीय महाकाव्य और  
उसमें संगीत  
चंदमोहन उपाध्याय

पृष्ठ क्र. 5-6

पाणिनि की अष्टाध्यायी  
और शास्त्र  
डॉ. अविनाश कुमार

पृष्ठ क्र. 7

सिद्धे और शिलालेख थे  
प्रचार का माध्यम  
नवीन कुमार ओझा

पृष्ठ क्र. 8

एक थी पौराणिक नदी  
सरस्वती  
मिथिलेश यादव



हैं। लाटदेश निवासी प्राकृतप्रिय होते हैं। मारवाड़ तथा राजपूताना (मरुभूमि) और पंजाब के कवि अपभ्रंश भाषा में अधिक रुचि रखते हैं। अवन्तिका, पारियात्र और दशपुर आदि देशों के कवि भूतभाषा या पैशाचीभाषा का अधिक प्रयोग करते हैं। किन्तु मध्यदेश के निवासी कवि सभी भाषाओं में समान रुचि रखते हैं। राजशेखर ने प्राकृत और अपभ्रंश की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है कि जब प्राकृत भाषा के वर्ण कानों में पड़ते हैं तो अन्य भाषाओं का रस कानों को कड़वा लगता है। लाट देश के लोग संस्कृत के शत्रु होते हैं, किन्तु उनका प्राकृत पाठ बड़ा ही सुन्दर होता है, संस्कृत कठोर और प्राकृत कोमल है। उनमें उतना ही अन्तर है, जितना पुरुष और स्त्री में। प्राकृत ही संस्कृत की जननी है। अपभ्रंश को उन्होंने भव्य भाषा कहा है। वह काव्य-रचना के लिए अत्यन्त उपयुक्त होती है। भूतभाषा या पैशाचीभाषा काव्य-रचना के लिए अत्यन्त सरस होती है। इस भाषा की उन्होंने विस्तार से चर्चा की है। राजशेखर की कर्पूरमंजरी उनके प्राकृत-प्रेम का अनन्य उदाहरण है। समस्त संस्कृत-साहित्य में यह नाटिका एक नया एवं बेजोड़ प्रयास है। कर्पूरमंजरी राजशेखर की अत्यन्त लोकप्रिय नाटिका है। उसकी लोकप्रियता का कारण उसका लोकभाषा प्रयोग है। साथ ही अभिनेयता की दृष्टि से भी उसका श्रेष्ठ स्थान है। उसमें सुन्दर गीतों और नृत्यों की योजना करके राजशेखर ने अपने कलानुराग को द्योतित किया है।

बालरामायण के पाँचवें अंक में सीता की काष्ठनिर्मित प्रतिमा का उल्लेख काष्ठ मूर्तियों के निर्माण की परम्परा भारतीय संस्कृति और कला को ध्वनित करता है। इसी प्रकार विद्वशालमंजिका में लाटदेश के राजा की छद्मरूपधारिणी पुत्री

मुगांकावली राजकुमार विद्याधरमल्ल के गले में उस समय मोतियों की माला पहना दी। जब वह अपनी चित्रशाला में अपनी प्रियसी की उत्कीर्णित मूर्ति को देखने में तन्मय है। इस नाटिका का विद्वशालमंजिका नामकरण ही कलानुराग की तत्कालीन परिस्थितियों का द्योतक है और राजशेखर के कलाप्रेम का परिचायक है। राजशेखर की काव्यमीमांसा रीति-रस-अलंकार आदि किसी एक विषय को लेकर लिखी रचना नहीं है, किन्तु अपनी नवीन प्रतिभाजन्य शैली द्वारा काव्य एवं कवि के समग्र प्रयोजनीय विषयों का एक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी संकलन है। इस ग्रंथ का प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है जिसमें 18 अध्याय हैं। इसका नाम 'कवि रहस्य' है जो वस्तुतः कवि के रहस्य को प्रकट करता है। इसमें कवियों का श्रेणीनिर्धारण कवियों के बैठने का क्रम, वेशभूषा आदि कर वर्णन है अतः इसमें प्रधान विषय कवि शिक्षा का ही है। एक रोचक कथा को आधार बनाकर प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति के संबंध में राजशेखर का कथन है कि काव्यपुरुष के अन्वेषण के समय उनकी प्रिय साहित्यवधू देश के विभिन्न अंचलों में विलक्षण वेशभूषा, विचित्र विलास और नवीन नवीन वचनविन्यास को धारण करती जाती थी। इस प्रकार प्रवृत्ति अर्थात् वेशविन्यासक्रमय वृत्ति और रीति अर्थात् वचनविन्यासक्रम के आधार को लेकर भारत के विभिन्न अंचलों की साहित्यिक संपदा एवं काव्यगत सौंदर्य की समीक्षा के विवेक पर राजशेखर ने विभिन्न प्रदेशों के नाम से विभिन्न काव्यशैलियों का तथ्यमूलक नामाकरण किया है। राजशेखर ने अपने को कविराज कहा है और कवियों की दस श्रेणियों में महाकवि के ऊपर उसको स्थान दिया है। राजशेखर ने अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेष्ट और भवभूति की परंपरा का व्यक्त किया है। प्रदेश विशेष के आधार पर चार प्रवृत्तियाँ मानते हुए भी राजशेखर ने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली, ये तीन ही रीतियाँ मानी हैं।

काव्यमीमांसा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राजशेखर के विचार में सूक्ष्मतापूर्वक प्रकृति निरीक्षण न करना कवि का महान् दोष है। काव्यमीमांसा में देशकालविभाग का सुंदर ढंग से निरूपण काव्य में इसी प्रवृत्ति की अवधारणा की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। कविसमय शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भी राजशेखर ने ही किया है और इसकी परिभाषा में इसका संकेत भी कर दिया है। परवर्ती अनेक आलंकारिकों ने कविराज राजशेखर का अनुकरण किया है जिनमें क्षेमंद्र, भोजराज, हेमचंद्र, वाग्भट्ट, केशव मिश्र, अजिसेन, देवेश्वर आदि उल्लेख्य हैं। क्षेमंद्र ने अपने सुवृत्तिलक में राजशेखर के शादूर्लविक्रीडित छंद की प्रशंसा की है और औचित्यविचारचर्चा में भी इनका उल्लेख किया है। राजशेखर के अनुसार वाणीपुत्र या देवी सरस्वती का पुत्र 'काव्यपुरुष' है और उसकी पत्नी 'साहित्यविद्या' है। शब्दार्थ उस काव्यपुरुष का शरीर है, संस्कृत उसका मुख है, प्राकृत उसकी भुजाएँ हैं, समता, माधुर्य और प्रसाद आदि उसके गुण हैं, रस उसकी आत्मा है और उपमा तथा सब कुछ उसका अलंकार है।



## भारतीय महाकाव्य और उसमें संगीत

चंदमोहन उपाध्याय

प्रगैतिहासिक काल से ही भारत में संगीत की समृद्ध परम्परा रही है। गिने-चुने देशों में ही संगीत की इतनी पुरानी एवं इतनी समृद्ध परम्परा पायी जाती है। माना जाता है कि संगीत का प्रारम्भ सिंधु घाटी की सभ्यता के काल में हुआ हालाँकि इस दावे के एकमात्र साक्ष्य हैं उस समय की एक नृत्य बाला की मुद्रा में काँस्य मूर्ति और नृत्य, नाटक और संगीत के देवता की पूजा का प्रचलन। सिंधु घाटी की सभ्यता के पतन के पश्चात् वैदिक संगीत की अवस्था का प्रारम्भ हुआ जिसमें संगीत की शैली में भजनों और मंत्रों के उच्चारण से ईश्वर की पूजा और अर्चना की जाती थी। इसके अतिरिक्त दो भारतीय महाकाव्यों – रामायण और महाभारत की रचना में संगीत का मुख्य प्रभाव रहा।

भारतीय संगीत में यह माना गया है कि संगीत के आदि प्रेरक शिव और सरस्वती है। इसका तात्पर्य यही जान पड़ता है कि मानव इतनी उच्च कला को बिना किसी देवी प्रेरणा के, केवल अपने बल पर, विकसित नहीं कर सकता। वैदिक युग में 'संगीत' समाज में स्थान बना चुका था। सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में आर्यों के आमोद-प्रमोद का मुख्य साधन संगीत को बताया गया है। अनेक वाद्यों का आविष्कार भी ऋग्वेद के समय में बताया जाता है। 'यजुर्वेद' में संगीत को अनेक लोगों की आजीविका का साधन बताया गया, फिर गान प्रधान वेद 'सामवेद' आया, जिसे संगीत का मूल ग्रन्थ माना गया। 'सामवेद' में उच्चारण की दृष्टि से तीन और संगीत की दृष्टि से सात प्राकार के स्वरों का उल्लेख है। 'सामवेद' का गान (सामगान) मेसोपोटामिया, फ़ैलिडिया, अक्कड़, सुमेर, बवेरु, असुर, सुर, ईरान, अरब, फिनिशिया व मिस्र के धार्मिक संगीत से पर्याप्त मात्रा में मिलता-जुलता था। उत्तर वैदिक काल के

'रामायण' ग्रन्थ में भेरी, दुंदभि, वीणा, मृदंग व घड़ा आदि वाद्य यंत्रों व भँवरों के गान का वर्णन मिलता है, तो 'महाभारत' में कृष्ण की बाँसुरी के जादुई प्रभाव से सभी प्रभावित होते हैं। अज्ञातवास के दौरान अर्जुन ने उत्तरा को संगीत-नृत्य सिखाने हेतु बृहन्नला का रूप धारण किया। पौराणिक काल के 'तैत्तिरीय उपनिषद', 'ऐतरेय उपनिषद', 'शतपथ ब्राह्मण' के अलावा 'याज्ञवल्क्य-रत्न प्रदीपिका', 'प्रतिभाष्यप्रदीप' और 'नारदीय शिक्षा' जैसे ग्रन्थों से भी हमें उस समय के संगीत का परिचय मिलता है। चौथी शताब्दी में भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' के छः अध्यायों में संगीत पर ही चर्चा की। इनमें विभिन्न वाद्यों का वर्णन, उनकी उत्पत्ति, उन्हें बजाने के तरीकों, स्वर, छन्द, लय व विभिन्न कालों के बारे में विस्तार से लिखा गया है। इस ग्रन्थ में भरत मुनि ने गायकों और वादकों के गुणों और दोषों पर भी खुलकर लिखा है। बाद में छः राग 'भैरव', 'हिंडोल', 'कैशिक', 'दीपक', 'श्रीराग' और 'मेघ' प्रचार में आये।

पाँचवीं शताब्दी के आसपास मतंग मुनि द्वारा रचित महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'वृहददेशी' से पता चलता है कि उस समय तक लोग रागों के बारे में जानने लगे थे। लोगों द्वारा गाये-बजाये जाने वाले रागों को मतंग मुनि ने देशी राग कहा और देशी रागों के नियमों को समझाने हेतु 'वृहददेशी' ग्रन्थ की रचना की। मतंग ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अच्छी तरह से सोच-विचार कर पाया कि चार या पाँच स्वरों से कम में राग बन ही नहीं सकता। पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' में भी अनेक वाद्यों जैसे मृदंग, झर्झर, हुडक तथा गायकों व नर्तकों सम्बन्धी कई बातों का उल्लेख है। सातवीं-दृआठवीं शताब्दी में 'नारदीय शिक्षा' और 'संगीत मकरंद' की रचना हुई। 'संगीत मकरंद' में राग में लगने वाले स्वरों के अनुसार उन्हें अलग-अलग वर्गों में बाँटा गया है और रागों को





गाने-बजाने के समय पर भी गम्भीरता से सोचा गया है। भारतीय संगीत का आदि रूप वेदों में मिलता है। वेद के काल के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है, किंतु उसका काल ईसा से लगभग दो हजार साल पहले था— इस पर प्रायः सभी विद्वान् सहमत है। इसलिए भारतीय संगीत का इतिहास कम से कम चार हजार साल पुराना है। वेदों में वाण, वीणा और कर्करि इत्यादि तंतु वाद्यों का उल्लेख मिलता है। अवनद्ध वाद्यों में दुदुभि, गर्गर इत्यादि का, घनवाद्यों में आघाट या आघाटि और सुषिर वाद्यों में बाकुर, नाडी, तूणव, शंख इत्यादि का उल्लेख है। यजुर्वेद में कई वाद्य बजानेवालों का उल्लेख है जिससे प्रतीत होता है कि उस समय तक कई प्रकार के वाद्यवादन का व्यवसाय हो चला था। संसार भर में सबसे प्राचीन संगीत सामवेद में मिलता है। उस समय 'स्वर' को 'यम' कहते थे। साम का संगीत से इतना घनिष्ठ संबंध था कि साम को स्वर का पर्याय समझने लग गए थे। छांदोग्योपनिषद् में यह बात प्रश्नोत्तर के रूप में स्पष्ट की गई है।

वैदिक काल में तीन स्वरों का गान 'सामिक' कहलाता था। 'सामिक' शब्द से ही जान पड़ता है कि पहले 'साम' तीन स्वरों से ही गाया जाता था। ये स्वर 'ग रे स' थे। धीरे-धीरे गान चार, पाँच, छह और सात स्वरों के होने लगे। छह और सात स्वरों के तो बहुत ही कम साम मिलते हैं। अधिक 'साम' तीन से पाँच स्वरों तक के मिलते हैं। साम के यमों (स्वरों) की जो संज्ञाएँ हैं उनसे उनकी प्राप्ति के क्रम का पता चलता है। जैसा हम कह चुके हैं, सामगायकों को स्पष्ट रूप से पहले 'ग रे स' इन तीन यमों (स्वरों) की प्राप्ति हुई। इनका नाम हुआ — प्रथम, द्वितीय, तृतीय। ये सब अवरोही क्रम में थे। इनके अनंतर नि की प्राप्ति हुई जिसका नाम चतुर्थ हुआ। अधिकतर साम इन्हीं चार स्वरों के मिलते हैं। इन चारों स्वरों के नाम संख्यात्मक शब्दों में हैं। इनके अनंतर जो स्वर मिले उनके नाम वर्णनात्मक शब्दों द्वारा व्यक्त किए गए हैं। इससे इस कल्पना की पुष्टि होती है कि इनकी प्राप्ति बाद में हुई।

'गांधार' से एक ऊँचे स्वर 'मध्यम' की भी प्राप्ति हुई जिसका नाम 'क्रुष्ट' (जोर से उच्चारित) पड़ा। निषाद से एक नीचे का स्वर जब प्राप्त हुआ तो उसका नाम 'मंद' (गंभीर) पड़ा। जब इससे भी नीचे के एक और स्वर को प्राप्ति हुई तो उसका नाम पड़ा 'अतिस्वार अथवा अतिस्वार्य'। इसका अर्थ है स्वरण करने की अंतिम सीमा। बारहवीं शताब्दी में संगीतज्ञ जयदेव ने 'गीतगोविन्द' नामक संस्कृत ग्रन्थ लिखा, इसे सकारण 'अष्टपदी' भी कहा जाता है। तेरहवीं शताब्दी में पण्डित शारंगदेव ने 'संगीतरत्नाकर' की रचना की। इस ग्रन्थ में अपने दौर के प्रचलित संगीत और भरत व मतंग के समय के संगीत का गहन अध्ययन मिलता है।

सात अध्यायों में रचे होने के कारण इस उपयोगी ग्रन्थ को 'सप्ताध्यायी' भी कहा जाता है। शारंगदेव द्वारा रचित 'संगीतरत्नाकर' के अतिरिक्त चौदहवीं शताब्दी में विद्यारण्य द्वारा 'संगीत सार', पन्द्रहवीं शताब्दी में लोचन कवि द्वारा 'राग

तरंगिणी', सोलहवीं शताब्दी में पुण्डरीक विट्ठल द्वारा 'सद्रागचंद्रोदय', रामामात्य द्वारा 'स्वरमेल कलानिधि', सत्रहवीं शताब्दी में हृदयनारायण देव द्वारा 'हृदय प्रकाश' व 'हृदय कौतुकम्', व्यंकटमखी द्वारा 'चतुर्दशप्रकाशिका', अहोबल द्वारा 'संगीत पारिजात', दामोदर पण्डित द्वारा 'संगीत दर्पण,' भावभट्ट द्वारा 'अनूप विलास' व 'अनूप संगीत रत्नाकार', सोमनाथ द्वारा 'अष्टोत्तरशतताल लक्षणाम' और अठारहवीं शताब्दी में श्रीनिवास पण्डित द्वारा 'राग तत्व विबोधः', तुलजेन्द्र भोंसले द्वारा 'संगीत सारामृतम्' व 'राग लक्षणम्' ग्रन्थों की रचना हुई। स्वामी हरिदास, विट्ठल, कृष्णदास, त्यागराज, मुथ्युस्वामी दीक्षितर और श्यामा शास्त्री जैसे अनेक संत कविवृत्तसंगीतज्ञों ने भी उत्तर आदि दक्षिण भारत के संगीत को अनगिनत रचनाएँ दीं।

कहा जा सकता है कि भारतीय संगीत शताब्दियों के प्रयास व प्रयोग का परिणाम है। सामगान की अपनी विशिष्ट स्वरलिपि है। लोगों में एक भ्रांत धारणा है कि भारतीय संगीत में स्वरलिपि नहीं थी और यह यूरोपीय संगीत का परिदान है। सभी वेदों के सस्वर पाठ के लिए उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के विशिष्ट चिन्ह हैं किंतु सामवेद के गान के लिए ऋषियों ने एक पूरी स्वरलिपि तैयार कर ली थी। संसार भर में यह सबसे पुरानी स्वरलिपि तैयार कर ली थी। संसार भर में यह सब में पुरानी स्वरलिपि है।

सुमेर के गान की भी कुछ स्वरलिपि यत्रतत्र खुदी हुई मिलती है। किंतु उसका कोई साहित्य नहीं मिलता। अतः उसके विषय में विशिष्ट रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु साम के सारे मंत्र स्वरलिपि में लिखे मिलते हैं, इसलिए वे आज भी उसी रूप में गाए जा सकते हैं। सामगान के प्रायः सात भाग होते हैं — हुंकार अथवा हिंकार, प्रस्ताव, आदि। वाल्मीकि रामायण में भेरी, दुदुभि, मृदंग, पटह, घट, पणव, डिंडिम, आडंबर, वीणा इत्यादि वाद्यों और जातिगायन का उल्लेख मिलता है। जाति, राग का आदिरूप है। महाभारत में सप्त स्वरों और गांधार ग्राम का उल्लेख आता है। महाजनक जातक (लगभग 200 ई.पू.) में चार परम महाशब्दों का उल्लेख है। इन्हें राजा उपाधि रूप में विद्वान् को प्रदान करता था। पुरनानूरु और पत्तुपाट्टु नामक तमिल ग्रंथों में अवनद्ध (चमड़े से मढ़े हुए) वाद्यों का बहुत महत्व दिया गया है। ऐसे वाद्य का विशिष्ट स्थान होता था जिसे 'मुरसुकट्टिल' कहते थे। तमिल के परिपादल ग्रंथ में स्वरों और सात पालई का उल्लेख है। 'पालई' मूर्छना से मिलता है। उसमें 'याल' नामक तंत्री वाद्य का भी उल्लेख है। 'याल' के एक प्रकार में एक सहस्र तक तार होते थे।

भारतीय संगीत का जो सबसे प्राचीन ग्रंथ मिलता है वह है भरत का नाट्यशास्त्र। भरत के काल के विषय में विवाद है। यह एक संग्रह ग्रंथ है। इसलिए इसके काल का निर्णय करना और कठिन हो गया है। नाट्यशास्त्र में श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्छना, जाति और ताल का विशद विवेचन किया गया है। भरत ने श्रुतियों का विचार स्वर की स्थापना के लिए किया है।

## पाणिनि की अष्टाध्यायी और शास्त्र

डॉ. अविनाश कुमार

भारतवर्ष में व्याकरण को उत्तरा विद्या एवं छहों वेदांगों में प्रधान माना गया है। भाषा के वर्गीकरण और प्रकृति प्रत्यय रूप विश्लेषण में जैसी उन्नति इस देश में हुई वैसी अन्यत्र नहीं। संस्कृत के वैयाकरणों ने सर्वप्रथम मूल शब्द के रूपों को अलग किया, धातु और प्रत्यय के भेद को पहिचाना, प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय किया और शब्दविद्या का इतना निश्चित और पूर्ण शास्त्र तैयार किया जिसकी उपमा किसी अन्य देश में नहीं मिलती। भारतीयों के शब्दविद्या-विषयक ज्ञान से पश्चिमी विद्वानों ने अपने भाषाशास्त्र में भी लाभ उठाया है।

पाणिनि का व्याकरणशास्त्र भारतीय शब्दविद्या का सबसे प्राचीन ग्रंथ है, जो इस समय उपलब्ध होता है। आचार्य पाणिनि ने महान् अष्टाध्यायी शास्त्र की रचना की, जो अपनी विशालता, क्रमबद्धता एवं विराट् कल्पना के कारण भारतीय मस्तिष्क की उसी प्रकार की कृति है जिस प्रकार पर्वत में उत्कीर्ण वेरूल क्षेत्र का विशाल कैलास मंदिर। पाणिनि ने संस्कृत भाषा को अमरता प्रदान की। व्याकरण की जो रीति उन्होंने अपनाई उसके द्वारा संस्कृत भाषा के सत्र अंग प्रकाश से आलोकित हो गये। पाणिनि की सहायता से उनमें अपना मार्ग ढूँढ़ निकालने में किसी को कठिनाई का अनुभव नहीं होता। संसार की कितनी ही प्राचीन भाषाएँ नियमित व्याकरण के अभाव में दुरुह बन गयी, किंतु संस्कृत भाषा के गद्य और पद्य दोनों एक समान पाणिनिशास्त्र से नियमित होने के कारण सत्र काल में सुबोध बने रहे हैं। संस्कृत भाषा का जहाँ तक विस्तार है वहीं तक पाणिनिशास्त्र का प्रमाण है। पाणिनि का प्रभाव सदा के लिये संस्कृत भाषा पर अक्षुण्ण है, आज भी उसकी मान्यता है। पाणिनि के कारण ही मानो यह भाषा कालमस्त नहीं हो सकी। पश्चिमी जगत् के विद्वान जब पाणिनि से परिचित हुए तो उनपर उस शास्त्र के महत्व की छाप पड़ी।

वेबर ने अपने संस्कृत भाषा के इतिहास में अष्टाध्यायी को इस कारण सभी देशों के व्याकरण-ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ माना कि उसमें बहुत बारीकी से धातुओं और शब्द-रूपों की छानबीन की गई है। गोल्डस्टूकर के मत में पाणिनिशास्त्र संस्कृत भाषा का स्वाभाविक विकास हमारे सामने उपस्थित करता है। इस शास्त्र के चारों ओर अति प्राचीनकाल से अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना होती रही है। भारतीय शास्त्रीय परंपरा की भूमि में पाणिनि की जड़ें सबसे अधिक गहराई तक फैली हैं। पाणिनि के सूत्र अत्यंत संक्षिप्त हैं। उन्हें छोटा बनाने में जिन विविध उपायों से काम लिया गया वे उनकी ओलिक सूझ प्रकट करते हैं, किंतु यह संक्षिप्त शैली सर्वथा स्पष्ट है, कहाँ भी दुरुह नहीं होने पायी है। जबसे सूत्रों का पठन-पाठन आरंभ हुआ तब से आज तक उनके शब्दों के अर्थ स्पष्ट रहे हैं।

अष्टाध्यायी की रचना से पहले शब्दविद्या का

दीर्घकालीन विकास हो चुका था, किंतु अष्टाध्यायी जैसे बृहत् और सर्वांगपरिपूर्ण शास्त्र के सामने पुराने ग्रंथ लुप्त हो गए। लोक में उसी का सर्वापरि प्रमाण माना जाने लगा। पूर्ववर्ती आचार्यों में केवल यास्क का निरुक्त बचा है और वह भी केवल इस कारण कि उसका ध्येय वैदिक अर्थों को विवृत करना था। यास्क और पाणिनि के समय में जो 'चरण' संज्ञक वैदिक शिक्षा-संस्थाएँ थीं उनकी परिषदों में अनेक प्रकार से शब्द और ध्वनि के नियमों का ऊहापोह किया गया था। चरण-परिषदों के अतिरिक्त भी कितने ही आचार्यों ने शब्दविद्या के विषय में ग्रंथ रचे थे। उनमें से कुछ का प्रमाण स्वयं पाणिनि ने दिया है। उस विस्तृत सामग्री की पृष्ठभूमि लेकर पाणिनि ने अपना शास्त्र बनाया। पाणिनि ने अपने समय की बोलचाल की शिष्ट भाषा की जाँच-पड़ताल करके अपनी सामग्री का संकलन किया। एक प्रकार से अधिकांश सामग्री उन्होंने स्वयं अपने लिये प्राप्त की। पाणिनि के सामने संस्कृत वाग्मय और लोकजीवन का बृहत् भंडार फैला हुआ था। वह नित्यप्रति प्रयोग में आनेवाले शब्दों से भरा हुआ था। इस भंडार का जो शब्द अर्थ और रचना की दृष्टि से कुछ भी निजी विशेषता लिए हुए था उसका उल्लेख सूत्रों में या गणपाठ में आ गया है। तत्कालीन जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं बचा जिसके शब्द अष्टाध्यायी में न आये हों। भूगोल, शिक्षा, साहित्य, सामाजिक जीवन, कृषि, वाणिज्य व्यवसाय, सिक्के, नापतोल, सेना, शासन, राजा, मंत्रिपरिषद्, यज्ञ-याग, पूजा, देवी-देवता, साधु-संन्यासी, रंगरेज, बढई, लुहार, जुलाहा, महाजन, किसान, जुआरी, बहेलिया आदि से संबंधित जहाँ तक जीवन का विस्तार है वहाँ तक शब्दों को समेटने के लिये पाणिनि का जाल पूरा हुआ था। विशेषतः भौगोलिक जनपदों और स्थानों, वैदिक शाखाओं और चरणों तथा गोत्रों और वंशों के नामों से संबंधित बहुत अधिक सामग्री अष्टाध्यायी में संग्रहीत हो गयी है। इन नामों से बनने वाले जो शब्द भाषा में रात दिन काम में आते थे उनकी रूप-सिद्धि और अर्थों का निश्चय पाणिनि का लक्ष्य था। इन शब्दों और अन्य सूत्रों पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि संस्कृत उस समय बोलचाल की भाषा थी। दूर से पुकारने, अभिवादन का उत्तर देने आदि के लिये जिस प्रकार वाक्यों और शब्दों में स्वरो का प्रयोग होता था उनके नियम सूत्रों में दिये गये हैं, जो उनकी व्यावहारिक उपयोगिता बताते हैं।

पाणिनीय शैली की बड़ी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने धातुओं से शब्द-निर्वाचन की पद्धति को स्वीकार किया। इसके लिये उन्होंने लोक में प्रचलित धातुओं का बड़ा संग्रह धातुपाठ में किया। आज भी इस देश की आर्य भाषाओं और बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये पाणिनि द्वारा संग्रहीत धातुपाठ धातुओं और अर्थों की दृष्टि से अति मूल्यवान है। दूसरी



ओर पाणिनि ने, जिस प्रकार धातुओं से संज्ञा शब्द सिद्ध होते हैं उस प्रक्रिया की, सामान्य और विशेष रीति से पूरी छानबीन करके कृदंत प्रत्ययों की लंबी सूची दी है और जिन अर्थों में वे प्रत्यय शब्दों में जुड़ते हैं उनका ज्ञान भी कराया है। यह सीधी शैली शब्द-ज्ञान के लिये नितान्त सरल और सुबोध हुई। पाणिनि से पहले आचार्य शाकटायन ने भी यह मत स्वीकार किया था कि शब्द धातुओं से बनते हैं, किंतु वैयाकरण शाकटायन ने अपने इस मत को एक आग्रह का रूप दे डाला था, और व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न सभी प्रकार के शब्दों को धातु-प्रत्ययों से सिद्ध करने का क्लिष्ट प्रयत्न किया था। शाकटायन फे मत की भालक और उसके उदाहरण यास्क ने निरुक्त में दिये हैं। सभी शब्दों को धातु मानने की शाकटायन-प्रदर्शित पगडंडी पर चलते हुए ही उणादि सूत्रों की रचना की जा सकती थी। उनके ठीक कर्ता का पता नहीं हो सकता है शाकटायन के व्याकरण के ही वे अवशेष हों जिनमें पीछे भी कुछ जोड़-तोड़ होता रहा। दूसरी ओर पाणिनि को मत विशेष का आग्रह न था। वे दो विरोधी मतों में बीच का रास्ता स्वीकार करना अच्छा समझते थे। जहाँ दो मतों का झगड़ा हो, वहाँ पाणिनि मध्यम पथ या समन्वय को पसंद करते हैं। उन्होंने देखा कि भाषा में कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनकी सिद्धि धातुओं में प्रत्यय लगाकर सामान्य या विशेष नियम के अंतर्गत आती है। किंतु लोक में शब्दों का भंडार बहुत बड़ा है। उसमें कितने शब्द ऐसे भी हैं जिनमें धातु-प्रत्यय की दाल नहीं गलती। इहात् प्रत्यय की थकली लगाकर उन्हें सिद्ध करना न केवल क्लिष्ट कल्पना है, बल्कि कभी-कभी व्याकरण शास्त्र की भी हँसी कराना है। ऐसे शब्द लोक में स्वयं उत्पन्न होते हैं, अर्थों के साथ उनका संबंध जुड़ जाता है एवं वे लोगों के कंठ में रहकर व्यवहार में आते हैं। ऐसे शब्दों को पाणिनि ने संज्ञाप्रमाण कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनमें व्याकरण के नियमों की बाँस-बल्ली नहीं लगती, वे जैसे हैं लोक के कंठ में ढल गए हैं। ऐसे शब्दों को यथोपदिष्ट मानकर उनकी भी प्रामाणिकता उन्होंने स्वीकार की है। 'उणाद्या बहुलम्' सूत्र लिखकर उन्होंने उणादि शैली से

शब्द सिद्ध करने की प्रक्रिया पर अपनी स्वीकृति की मोहर तो लगा दी, किंतु 'बहुलम्' कहकर लंबी छूट भी दे दी कि जो आचार्य जितनी चाहे उतनी चौकड़ी भरे और भी जहाँ-जहाँ मतों का द्वंद्व था, आचार्य पाणिनि ने समन्वय का दृष्टिकोण स्वीकार किया। शब्द का अर्थ व्यक्ति हो या जाति, यह एक पुराना विवाद था। महाभाष्य में इसका शास्त्र दिया गया है। आचार्य वाजप्यायन का मत था कि 'गौ' शब्द का अर्थ गो-जाति-मात्र है। आचार्य व्याडि का मत था कि 'गौ' शब्द व्यक्ति-रूप केवल एक गौ का वाचक है। 'जात्याख्यायं एकस्मिंबहुवचनमन्यतरस्याम्' सूत्र में यह माना जाता है कि जाति गुणवाचक शब्द का अर्थ होता है, और 'सःपानामेक्षा एकविभक्तौ' सूत्र में शब्द का अर्थ द्रव्य या एक व्यक्ति लिया गया है। पतंजलि ने महाभाष्य के आरंभ के पस्पशाखिक में इस संबंध में पाणिनि की स्थिति को संक्षेप में स्पष्ट किया है। पाणिनि का महान् शास्त्र अष्टाध्यायी इस दृष्टि से भी हमारे लिये महत्वपूर्ण है कि यास्क के निरुक्त की तरह उस पर एक ही आचार्य के कृतत्व की छाप है। वह इस प्रकार का ग्रंथ नहीं है जिसका संकलन चरण साहित्य के ढंग पर गुरु-शिष्य परंपरा में पल्लवित होनेवाले शास्त्रीय ज्ञान को इकट्ठा करके किया गया हो। शब्द-सामग्री का संग्रह करने के बाद पूर्वाभिमुख आसन पर बैठकर महान् यन्त्र से एक ही बार में आचार्य पाणिनि ने अपने शास्त्र की रचना की। सूत्रों की अन्तः साक्षी इसी पक्ष में है। रचना के बाद भी पाणिनि के ग्रंथ में बहुत ही कम फेर हुआ है। बर्नेल ने लिखा है कि ढाई सहस्र वर्षों की दीर्घ परंपरा के बाद अष्टाध्यायी का पाठ जितना शुद्ध और प्रामाणिक हमें मिलता है, उतना किसी अन्य संस्कृत ग्रंथ का नहीं। अष्टाध्यायी के सूत्रों में भूगोल, इतिहास, सामाजिक स्थिति एवं संस्कृति संबंधी जो सामग्री पाई जाती है, उसकी प्रामाणिकता उतनी ही बढ़ी-चढ़ी है जितनी प्राचीन शिलालेखों या सिक्कों की मानी जाती है। अष्टाध्यायी की प्राचीनता को आजकल के सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इस प्राचीनता से भी इस ग्रंथ की सामग्री का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

## सिक्के और शिलालेख थे प्रचार का माध्यम

नवीन कुमार ओझा

प्राचीन काल में सिक्कों, शिलालेखों और अन्य माध्यमों पर लेखन किया जाता था। इसका मुख्य उद्देश्य शासक की सत्ता, उनके कार्यों और धार्मिक मान्यताओं का प्रचार करना था। सिक्कों पर आम तौर पर शासक का नाम, उपाधि और प्रतीक अंकित होते थे। कई बार शासक के धार्मिक विश्वासों या किसी विजय का उल्लेख भी किया जाता था। शिलालेखों पर शासक की उपलब्धियाँ, युद्धों में जीत, धार्मिक अनुष्ठान और जनता के लिए दिये गये आदेश अंकित होते थे। ये लेख कई बार काव्यात्मक शैली में होते थे। प्राचीन मंदिरों और धार्मिक स्थलों पर कविताएँ, स्तुतियाँ और दान की गयी भूमि या अन्य संपत्ति का विवरण लिखा जाता था। कई राजाओं ने अपनी विजय, धर्म और न्याय के संदेशों को कविताओं और श्लोकों के रूप में लिखवाया, ताकि जनता तक वह आसानी से पहुँच सके। इन माध्यमों का मुख्य उद्देश्य शासक के आदर्शों, शक्तियों और धार्मिक आस्थाओं का प्रसार करना था, ताकि जनता में उनकी प्रतिष्ठा बढ़े।

काबुल और पंजाब पर राज्य करनेवाले यूनानी (ग्रीक) राजाओं के राजत्व-काल का अय तक केवल एक ही शिलालेख विदिशा के एक सुंदर और विशाल पाषाण स्तंभ पर खुदा हुआ मिला है, जिससे जाना जाता है कि राजा एंटी-आल्किडिस के समय तक्षशिला (पंजाब) नगर के रहनेवाले डियन के पुत्र हेलियोडोरनस ने, जो यवन (यूनानी) होने पर भी भागवत (वैष्णव) था और राजा काशीपुत्र भागभद्र के यहाँ राजदूत होकर आया था। उसने विष्णु का यह गरुड़ ध्वज बनवाया। अब तक यूनानी राजाओं के समय का यही एक शिलालेख मिला है। श्रीलंका से मलिंद पन्हो (मलिंद प्रश्न) नामक पाली भाषा की पुस्तक में मलिंद (मिनेंडर) और बौद्ध श्रमण नागसेन के निर्वाण संबंधी प्रश्नोत्तर हैं। उक्त पुस्तक से जाना जाता है कि मलिंद (मिनेंडर) यवन (यूनानी) था और वह पराक्रमी होने के अतिरिक्त अनेक शास्त्रों का ज्ञाता भी था। उसका जन्म अलसंद अर्थात् अलेग्जड्रिया नगर (हिंदुकुश पर्वत के निकट) में हुआ था। उसकी राजधानी साकल नामक समृद्ध नगर था। मलिंद (मिनेंडर) नागसेन के उपदेश से बौद्ध हो गया था।

प्लूटार्क नामक प्राचीन लेखक लिखता है कि वह ऐसा न्यायी और लोकप्रिय था कि उसकी मृत्यु होने पर अनेक नगरों के लोगों ने उसकी राख आपस में बाँट ली और अपने यहाँ उसे ले जाकर उन पर स्तूप बनवाये। शिलालेख और प्राचीन पुस्तकों से खोजकर्ताओं को अफगानिस्तान और पंजाब आदि पर राज्य करनेवाले यूनानी राजाओं में से केवल दो के ही नाम ज्ञात हुए हैं। परंतु यूनानियों के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों पर पच्चीस से अधिक राजाओं और रानियों के नाम प्राप्त होते हैं। यद्यपि सिक्के छोटे होते थे और उन पर बहुत ही

छोटे-छोटे लेख अंकित रहते थे। यूनानियों के सिक्कों पर एक तरफ राजा का चेहरा और किनारे के पास खिताबों सहित राजा नाम का और उन पर बहुत ही छोटे-छोटे लेख ग्रीक लिपि में रहता था। दूसरी ओर किसी आराध्य देवी देवता का या अन्य किसी का चित्र रहता है और किनारे के पास उस प्राचीन ग्रीक लिपि के लेख का बहुधा प्राकृत अनुवाद खरोष्ठी लिपि में होता है। इन सिक्कों पर राजा के पिता का नाम न होने से उनकी वंश-परम्परा ज्ञात नहीं होती थी। मगर उनकी पोशाक, उनके आराध्य देवी-देवता, उस समय की शिल्पकला आदि का उनसे परिचय मिलता है। इन्हीं सिक्कों की प्राचीन ग्रीक लिपि के लेखों के सहारे से खरोष्ठी लिपि की वर्णमाला का भी ज्ञान हो सका, जिससे उक्त लिपि में मिलने वाले हमारे यहाँ के शिलालेख और ताम्रलेख अब थोड़े श्रम से भली-भाँति पढ़े जा सकते हैं। इन सिक्कों पर संवत् न रहने से उक्त राजाओं का अब तक ठीक निश्चय न हो सका, तो भी इतिहास की खोज हुई कड़ियों को एकत्र करने में वे बहुत सहायक हैं।

इसी तरह पश्चिमी क्षत्रप वंशी राजाओं के चाँदी के वह सिक्के मिलते हैं जो कलदार चौअन्नी से बड़े नहीं होते थे, तो भी उन पर लेखों में क्षत्रप या महाक्षत्रप का नाम और खिताब एवं उसके पिता क्षत्रप का नाम तथा संवत् का अंक दिया हुआ होने से इस राजवंश की क्रमबद्ध वंशावली और बहुत से राजाओं के राजत्व काल का निर्णय हो गया है। जबकि उनके थोड़े से मिले हुए शिलालेखों में छः सात राजाओं से अधिक के नाम नहीं मिलते। उक्त सिक्कों के आधार पर क्षत्रपों का वंश-वृक्ष बनाने से यह भी निर्णय होता है कि इनमें क्षत्रपों का ज्येष्ठ पुत्र ही अपने पिता के राज्य का स्वामी नहीं होता था, किंतु एक राजा के जितने पुत्र हों, वे उसके पीछे यदि जीवित रहे, तो क्रमशः सबके सब राज्य के स्वामी होते थे और उनके बाद यदि बड़े भाई का पुत्र जीवित हो तो वह राज्य पाता था। यह रीति केवल सिक्कों से ही जानने में आयी है।

कुशणवंशियों के सिक्कों से ज्ञात होता है कि वे शीत प्रधान देशों से आये हुये थे, जिससे उनके सिर पर बड़ी टोपी, बदन पर मोटा कोट या लबादा और पैरों में लंबे बूट होते थे। राजतरंगिणी में कल्हण ने उनको तुरुष्क अर्थात् वर्तमान तुर्किस्तान का निवासी बतलाया है, जो उनकी पोशाक से ठीक जान पड़ता है। वे लोग अग्निपूजक थे और बहुधा सिक्कों में राजा अग्निकुंड में आहुति देता हुआ मिलता है। वे शिव, बुद्ध, सूर्य, आदि अनेक देवताओं के उपासक थे, जैसा कि उनके सिक्कों पर अंकित आकृतियों से पाया जाता है। उस समय तुर्किस्तान में भारतीय सभ्यता फैली हुई थी। गुप्तकाल के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के मिलते हैं, जिनमें सोने के सिक्के विशेष महत्व के हैं, क्योंकि उन पर इन राजाओं के कई कार्य अंकित किये गये हैं।

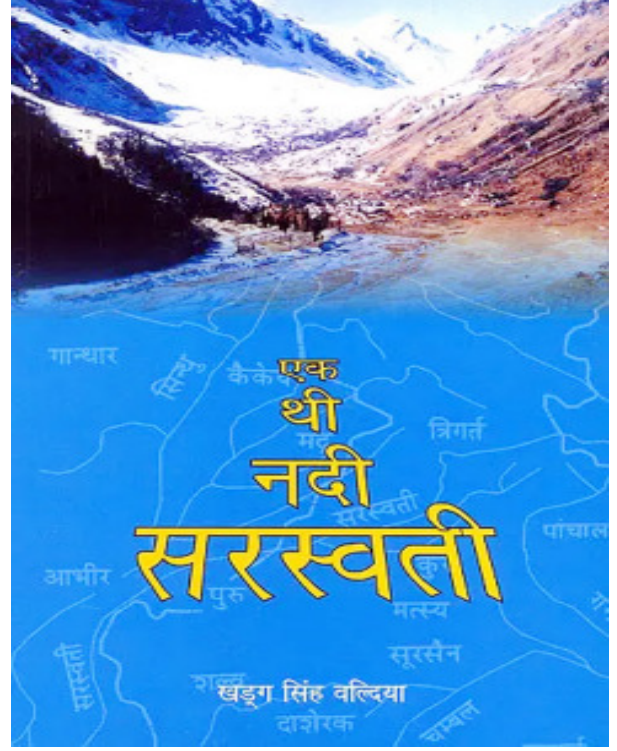


पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

## एक थी पौराणिक नदी सरस्वती

सरस्वती एक पौराणिक नदी जिसकी चर्चा वेदों में भी है। इसे प्लाक्षवती, वेदस्मृति, वेदवती भी कहते हैं। ऋग्वेद में सरस्वती का अन्नवती तथा उदकवती के रूप में वर्णन आया है। यह नदी सर्वदा जल से भरी रहती थी और इसके किनारे अन्न की प्रचुर उत्पत्ति होती थी। कहते हैं, यह नदी हिमाचल में सिरमौर राज्य के पर्वतीय भाग से निकलकर अंबाला तथा कुरुक्षेत्र, कैथल होती हुई पटियाला राज्य में प्रविष्ट होकर सिरसा जिले की दृशद्वती (कांगार) नदी में मिल गई थी। प्राचीन काल में इस सम्मिलित नदी ने राजपूताना के अनेक स्थलों को जलसिक्त कर दिया था। यह भी कहा जाता है कि प्रयाग के निकट तक आकर यह गंगा तथा यमुना में मिलकर त्रिवेणी बन गई थी। कालांतर में यह इन सब स्थानों से तिरोहित हो गई, फिर भी लोगों की धारणा है कि प्रयाग में वह अब भी अंतःसलिला होकर बहती है। मनुसंहिता से स्पष्ट है कि सरस्वती और दृषद्वती के बीच का भूभाग ही ब्रह्मावर्त कहलाता था। समय-समय पर सरस्वती की खुद संबंधी अनेक अन्वेषण होते रहे हैं।

भूविज्ञानी एवं पर्यावरणविद् डॉ. खड्ग सिंह वल्लिया की पुस्तक "एक थी नदी सरस्वती" एक ऐसी नदी की गाथा है जो आज से लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व विलुप्त हो गयी थी। बिना तकनीकी शब्दों का प्रयोग किये सरल भाषा में लिखी इस रचना में उस महान नदी सरस्वती का इतिहास है जो हरियाणा, पश्चिमोत्तर राजस्थान और पूर्वी सिन्धु राज्यों को सींचती हुई अरब सागर में विसर्जित होती थी। नदी के उर्वर मैदान में विकसित पल्लवित पाषाणकालीन एवं हड़प्पा संस्कृतियों के लोगों की जीवनशैलियों पर भी इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद तथा अन्य पौराणिक वैदिक ग्रंथों में दिये सरस्वती नदी के सन्दर्भों के आधार पर कई भू-विज्ञानी मानते हैं कि हरियाणा से राजस्थान होकर बहने वाली मौजूदा सूखी हुई घग्घर-हकरा नदी प्राचीन वैदिक सरस्वती नदी की एक मुख्य सहायक नदी थी, जो 5000-3000 ई.पू. पूरे प्रवाह से बहती थी। उस समय सतलुज तथा यमुना की कुछ धाराएँ सरस्वती नदी में आकर मिलती थीं। इसके अतिरिक्त दो अन्य लुप्त हुई नदियाँ दृष्टावदी और हिरण्यवती भी सरस्वती की सहायक नदियाँ थीं, लगभग 1900 ई.पू. तक भूगर्भी बदलाव की वजह से यमुना, सतलुज ने अपना रास्ता बदल दिया तथा दृष्टावदी नदी के 2600 ई.पू. सूख जाने के कारण सरस्वती नदी भी लुप्त हो गयी। ऋग्वेद में सरस्वती नदी को नदीतमा की उपाधि दी गयी है। वैदिक सभ्यता में सरस्वती ही सबसे बड़ी और मुख्य नदी थी। इसरो द्वारा किये गये शोध से पता चला है



कि आज भी यह नदी हरियाणा, पंजाब और राजस्थान से होती हुई भूमिगत रूप में प्रवाहमान है।

लेखक ने विज्ञान की कसौटी पर परख कर, प्रभूत चित्रों का सहारा लेकर, विविध भूवैज्ञानिक, भौमिक, भूजलीय, पुरातात्विक एवम् पौराणिक साक्ष्य प्रस्तुत कर सरस्वती का इतिहास चित्रित किया है एवं भूगतिक भौमिक घटनाओं का हवाला देते हुए सरस्वती के विलुप्त होने का कारण बताया है। समय की अन्तहीन पगडंडी पर चलता हुआ हिमालय के भूवैज्ञानिक अतीत के सुदूर कालों में भटकने के बाद मेरी दृष्टि पड़ी पर्वतराज के सामने सिन्धु गंगा के मैदान के उस भूभाग पर जो नितान्त नदी हीन है। इसी भूभाग के लिए कुछ हजार साल पहले भयंकर महाभारत युद्ध हुआ था कुरुक्षेत्र में। अनेक भूवैज्ञानियों तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं की भाँति मुझे भी आश्चर्य होता था कि हड़प्पा सभ्यता के प्रगतिशील समाज के लोग क्यों ऐसी निर्जल वाहिका के किनारे बसते थे जिसमें आज केवल बाढ़ का पानी बहता है। कैसे बन गये थे वे समृद्ध सम्पन्न और उन्नत नदी हीन अंचल में रहते हुए भी कैसे हो गया उनका जीवन इतना उन्नत कि उसमें कला के प्रति आग्रह था आवश्यकताओं में सुरुचि थी और पर्यावरण के प्रति प्रेम था?

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujain@gmail.com, vikramadityashodhpeth@gmail.com